

## समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की दार्शनिक विवेचना

### सारांश

मानव स्वभाव समाज की उत्पत्ति का मुख्य आधार है क्योंकि मनुष्य की परिभाषा सामाजिक प्राणी के रूप में की जाती है। मनुष्य ने इस धरती पर जब से जन्म लिया है तभी से वह किसी न किसी प्रकार के समाज में ही रहता आया है क्योंकि यह समाज ही मनुष्य की रक्षा एवं आवश्यकता का मुख्य साधन रहा है। मानव ने सबसे लिखना एवं पढ़ना सिखा है तभी से मानव समाज की उत्पत्ति के बारे में विचार करता आ रहा है। समाज दार्शनिकों ने समाज की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों की खोज की है। कुछ समाज दार्शनिक समाज की उत्पत्ति को ईश्वर अथवा दैवीय शक्ति के द्वारा उत्पन्न हुआ मानते हैं। कुछ दार्शनिक समाज की उत्पत्ति की व्याख्या मनुष्य के आपसी समझौते के आधार पर करते हैं। कुछ दार्शनिक समाज की उत्पत्ति के बारे में मातृक एवं पैतृक सत्ता को मानते हैं तथा कुछ विकासवादी दार्शनिक समाज की उत्पत्ति को मानव के विकास का ही एक स्तर मानते हैं। सभी के अपने-अपने तर्क एवं व्याख्याएँ हमें देखने को मिलते हैं, परन्तु सभी की व्याख्या करने के बाद समझौते एवं विकास को समाज की उत्पत्ति के मुख्य सिद्धान्त माना जा सकता है। इस शोध पत्र में इसी दृष्टि से समाज की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

**मुख्य शब्द :** समाज, दार्शनिक, उत्पत्ति, दैवीय, सामाजिक, समझौता, मातृक, पैतृक, विकासवादी, आवश्यकता, मानव।

### प्रस्तावना

अरस्तू के अनुसार मानव एक सामाजिक प्राणी है अर्थात् समाज की उत्पत्ति मानव के स्वभाव से होती है इसीलिए मानव एक सामाजिक प्राणी है क्योंकि समाज मानव के ही स्वभाव में पाया जाता है परन्तु अन्य जीव-जन्तुओं को स्वभाव में समाज के कुछ प्राकृतिक तत्त्व ही पाये जाते हैं, जिसको हम समाज का नाम नहीं दे सकते। मानव ही इस सृष्टि पर एक ऐसा प्राणी है जिसके स्वभाव में एक समाज के सभी आवश्यक तत्त्व पाये जाते हैं। समाज दर्शन में इसके अलावा समाज दार्शनिकों के द्वारा समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तों की विवेचना की गई है, जिनका विवेचन करना समाज दर्शन की दृष्टि से अति आवश्यक है परन्तु इन सिद्धान्तों की विवेचना करने के पूर्व इनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि की विवेचना करना अति आवश्यक है। समाज मूल रूप से एक मनोवैज्ञानिक ढांचा है, क्योंकि यह मानव-समूह ही है और मानव स्वयं चिंतन, भावना एवं इच्छा कर त्रिमूर्ति है। एक मानव का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इससे एक प्रकार की क्रिया-प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है और इसी से समाजशास्त्र का जन्म होता है। मानव की इस समाजिकता में कुछ आवश्यक बातें पाई जाती हैं, जैसे मनुष्य की बहुत सी आवश्यकताएँ होती हैं। परन्तु कोई भी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। यह भी नहीं है। पहली बात तो यह कि कोई भी काम करने में उसे दूसरों का भी सहयोग चाहिये। जैसे हम खेती भी करते हैं तो उसमें कई लोगों का और कई तरह का सहयोग चाहिये। कोई निर्देश दे सकता है तो कोई उसका कार्यान्वयन करता है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी योग्यता एवं क्षमता होती है। इसीलिए श्रम-विभाजन और कर्तव्य हस्तांतरण के आधार पर समाज टिका हुआ है। सामाजिक व्यवस्था कोई बनावटी वस्तु नहीं है, यह प्राकृतिक है। मानव-जीवन इसके बिना सम्भव नहीं है। प्लेटो ने स्पष्ट रूप से माना है कि व्यक्ति में समाज के लिए और समाज में व्यक्ति के लिए सहज योग्यता है। यदि व्यक्ति की योग्यताओं की समुचित अभिव्यक्ति हो तो समाज में सामंजस्य होता है। अरस्तू भी प्लेटो के विचार से सहमत है कि समाज का आधार मानव-प्रकृति है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाजिकता मानव की जन्मजात और प्राकृतिक प्रवृत्ति है।



**पिताम्बर दास जाटव**

असिस्टेंट प्रोफेसर,  
दर्शनशास्त्र विभाग,  
महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,  
वाराणसी

**साहित्यावलोकन**

प्रस्तुत शोध पत्र समाज की उत्पत्ति से सम्बन्धित सामग्री हमें डॉ० रामजी सिंह की पुस्तक 'समाज के मूल तत्त्व' के पृष्ठ संख्या 107 से 131 पर मिलती है, यह पुस्तक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा वर्ष 1932 में प्रकाशित है। कुछ महत्वपूर्ण सामग्री जे० एस० मकेन्जी की पुस्तक 'समाज-दर्शन की रूपरेखा के पृष्ठ संख्या 39 से 53 पर उपलब्ध है, यह पुस्तक 'Out lines of Social Philosophy' का हिन्दी अनुवाद है, जिसके अनुवादक डॉ० अजीत कुमार सिन्हा जी हैं, यह पुस्तक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली से वर्ष 2009 में प्रकाशित है। डॉ० शिवभानु सिंह जी की पुस्तक 'समाज दर्शन का सर्वेक्षण' के पृष्ठ संख्या 46 से 52 पर अति महत्वपूर्ण समाज से सम्बन्धित सामग्री उपलब्ध है, यह पुस्तक शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद द्वारा वर्ष 2001 में प्रकाशित है। कुछ सामग्री डॉ० रामनाथ शर्मा की पुस्तक 'समाज दर्शन' के पृष्ठ संख्या 263 से 265 पर भी लिखित है, यह पुस्तक केदारनाथ रामनाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, उ० प्र० द्वारा वर्ष 1998 में प्रकाशित है। डॉ० बी० एन० सिन्हा जी की पुस्तक 'समाज दर्शन सामाजिक एवं राजनीतिक दर्शन' के पृ० सं० 36 से 49 पर भी विद्यमान है, यह पुस्तक सपना अशोक प्रकाशन, रामनगर, वाराणसी द्वारा वर्ष 2003 में प्रकाशित है। उपरोक्त पुस्तकों के अलावा सोशल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'रिमार्किंग एन एनालाइजेशन' के नवें अंक, व० 1, दिसम्बर, 2016 के पृ० सं० 133-140 पर प्रकाशित डॉ० पिताम्बर दास जी के शोध पत्र 'समाज दर्शन की पद्धतियाँ' में भी महत्वपूर्ण लिखित सामग्री उपलब्ध है। उक्त फाऊण्डेशन द्वारा प्रकाशित 'श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका' के व० 5, अंक 10, जून-2018 के पृ० सं० 58-64 पर डॉ० पिताम्बरदास जी के शोध पत्र 'मानव स्वभाव की उत्पत्ति : एक दार्शनिक विवेचन' में भी कुछ सामग्री उपलब्ध है। उक्त फाऊण्डेशन द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका 'श्रृंखला एक शोध परक वैचारिक पत्रिका' के व० 5, अंक-12, अगस्त-2018 में डॉ० पिताम्बर दास जी द्वारा प्रकाशित शोध पत्र 'संस्थाओं की उत्पत्ति एवं उनके दार्शनिक आधार' में भी कुछ सामग्री विद्यमान है। उक्त फाऊण्डेशन द्वारा प्रकाशित 'रिमार्किंग' व० 03, अंक-06, सितम्बर, 2018 के अंक में डॉ० पिताम्बर दास जी के प्रकाशित शोध पत्र 'समाज की प्रकृति एवं दार्शनिक आधार' पृ० सं० 237 से 244 पर भी कुछ विचार विद्यमान है।

**शोध पत्र का उद्देश्य**

प्रस्तुत शोध के द्वारा अब तक स्थापित समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की सही-सही व्याख्या करते हुए यह बताना है कि समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समाज दार्शनिक एक मत नहीं रखते क्योंकि मानव एवं समाज के अनुसंधान ने यह सिद्ध किया है कि समाज का वास्तविक अर्थ मानव समाज ही है, जिसके निर्माण में मानव जाति की सैकड़ों हजारों वर्षों की खोज को आधार बनाते हुए, समाज की उत्पत्ति के बारे में अनेक सिद्धान्त हमें मिलते हैं जिनकी सही एवं सटीक जानकारी देना मेरे शोध पत्र का मुख्य उद्देश्य है।

**समाज की मूल बातें**

मनुष्य की प्रकृति ही है कि वह समाज बनायेगा। बिना समाज के व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता क्योंकि समाज में ही उसका जन्म होता है। मां की गोद में पलता है। परिवार में भाषा, चलना-फिरना आदि अनेक व्यवहार सीखता है। यहीं उसे संगी या संगिनी मिलते हैं, पड़ोस और पाठशाला मिलते हैं। अतः समाज उसके जन्म एवं विकास का सहायक है। मनुष्य को केवल भोजन-पानी ही नहीं, शिक्षण एवं संस्कार भी चाहिये। समाज ही अतीत के ज्ञान की संचित निधि रखता है और ज्ञान-विज्ञान के विकास में भी समाज का सहयोग अपेक्षित है। यहीं हम शिष्टाचार सीखते हैं, नैतिकता एवं धर्म का पाठ भी हमें यहीं मिलता है। मानव का संघर्ष प्रकृति से भी है क्योंकि प्रकृति कभी शीत, कभी ताप, कभी अतिवृष्टि और कभी अनावृष्टि से हमें आक्रान्त करती है। ऐसी स्थिति में हमारा सहयोग का वातावरण ही हमारे लिए रक्षा-कवच सिद्ध होता है। संघबद्ध होकर वह हिंसक पशुओं से तो लड़ ही सकता है, साथ-साथ परस्पर सहयोग से शीत-ताप आदि से भी बचने के लिये भवन भी बना सकता है। किन्तु मनुष्य को केवल भोजन-वस्त्र की जरूरत नहीं होती है, उसकी काम, प्रेम और सन्तति की वासनाएं भी संतुष्टि चाहती हैं। इसके लिये पति-पत्नी और परिवार का होना आवश्यक हो जाता है।

**भाषा एवं समाज**

भाषा भी मनुष्य एवं समाज को जोड़कर रखती है। जो बच्चे मानव-समाज में नहीं पलते हैं, वे पशुओं की भाषा बोलने लगते हैं। भाषा सहयोग और संप्रेषण की आकांक्षा को पूर्वकल्पित करती है। इसकी ध्वनि, उच्चारण आदि सभी समाज द्वारा निर्धारित होते हैं। इस प्रकार समाज संघबद्ध होकर रहने को कहते हैं, जहां लोग एक साथ चलें वही समाज है। इस प्रकार के सहचिंतन, सहयोग एवं सहानुभूति से ही तो नैतिकता और आध्यात्मिकता का प्रस्फुटन होता है। आत्मवत् सर्वभूतेषु देखना, यही समाज नीति का सार है।

समाज के आधारभूत सिद्धान्त चाहे हम और भी जितने गिनारें, लेकिन इसका मुख्य आधार मनोवैज्ञानिक ही है। यह मानव-प्रकृति की मांग है। मानव स्वभाव से सुख चाहता है, इसलिए समाज-निर्माण का मुख्य प्रयोजन प्राण-रक्षा और समाज का साध्य सब के लिए सुखी जीवन उपलब्ध कराना है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है कि वह सुख चाहेगा। हाब्स के अनुसार, समाज मनुष्य की स्वार्थी प्रकृति पर बंधन है। मां बच्चे के लिए, पिता पुत्र के लिए एवं व्यक्ति पड़ोस, नगर, राष्ट्र के लिए अपना सुख त्याग देता है। प्रमुख समाज वैज्ञानिक मैकडूगल के अनुसार कुछ मूल-प्रवृत्तियां हमारी सभी सामाजिक प्रक्रियाओं के मूल में हैं। जैसे, आत्म-प्रदर्शन और आत्म-प्रतिष्ठान की प्रवृत्ति, आत्म-लघुता की प्रवृत्ति आदि हैं। आत्म-प्रदर्शन एक सामाजिक मूल प्रवृत्ति है और दर्शकों की अपेक्षा रखती है। उसी तरह आत्म-लघुता के कारण हम दूसरे के सामने विनम्र होकर रहते हैं। अन्य सामाजिक मूल प्रवृत्तियों में हम वात्सल्य की भावना सामूहिकता या सामुदायिकता की भावना आदि को प्रमुख स्थान दे सकते हैं। डॉ० ट्रॉटर तो झुण्ड अथवा सामुदायिकता की प्रवृत्ति

को ही समाज का एक मात्र आधार स्वीकार करते हैं। डार्विन ने भी वात्सल्य भावना को समाज का सबसे ठोस आधार माना है। फ्रायड के अनुसार प्रेम और घृणा के बीच संघर्ष ही सामाजिक जीवन का मुख्य आधार है। इसी को जीवन-प्रवृत्ति और मृत्यु-प्रवृत्ति कहा गया है। जिसमें प्रथम प्रवृत्ति दूसरों के प्रति प्रेम की आधार बनती है, फिर चाहे वह वात्सल्य हो या दाम्पत्य, लैंगिक प्रेम हो या आदर्शवादी यदि यह प्रेम प्रवृत्ति न रहे तो समाज रहेगा ही नहीं। फ्रायड के अनुसार इस प्रेम-प्रवृत्ति के पीछे काम शक्ति कार्य करती है। समाज इन प्रवृत्तियों को मर्यादा में रखता है। कुछ लोग झुण्ड-प्रवृत्ति के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं और सामाजिकता का मूलधार प्यार और बच्चों का पालन-पोषण आदि अनेक पारिवारिक प्रवृत्तियों को मानते हैं। मानव संगति एवं आपसी मेल-जोल से बहुत कुछ सीखता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुरखीम के अनुसार हमारे सामाजिक प्रक्रिया का लक्षण और आधार एक प्रकार का दबाव है। उसके अनुसार हमारे ऊपर दूसरे व्यक्तियों के विचार क्रियाविधि और भावनाओं का प्रभाव भी होता है और दबाव भी, फिर हम सामाजिकता की कड़ी में जुड़ते जाते हैं। लेकिन केवल दबाव ही सामाजिकता पैदा नहीं करता, इसके साथ सहानुभूति उत्तेजक व्यक्ति को सामाजिक बनाते हैं और इस तरह सामाजिकता का विकास शिक्षण की एक प्रक्रिया से होता है। अतः सामाजिक वृत्ति जन्मजात नहीं होती, उसे हम संस्थाओं और उसके चतुर्दिक व्याप्त परम्पराओं एवं संस्कृति से सीखते हैं। कुल मिलाकर हम सामाजिकता के विकास में जन्मजात वृत्ति, अनुकरण, वात्सल्य, सामाजिक सीख एवं सम्मुख को पाते हैं। समाज निर्माण में इन सभी तत्त्वों का योगदान रहता है। उसकी प्रकृति में भी सामाजिकता है और उसके वातावरण में भी सामाजिकता रहती है। इस तरह वह सामाजिक बनता है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समाज दार्शनिकों द्वारा बताये गये विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे।

समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में समाज दार्शनिकों ने अपने अलग-अलग विचार दिये हैं, जिसके कारण समाज की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अलग-अलग सिद्धान्त बन गये हैं, जिसमें मुख्य रूप से कहीं चार और कहीं पाँच सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। जैसे दैवी सिद्धान्त, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त, पैतृक सिद्धान्त, विकासवादी सिद्धान्त।

### **दैवी सिद्धान्त**

इस सिद्धान्त के अनुसार सृष्टि के समान समाज भी ईश्वर-प्रदत्त है। ऐसा सम्भवतः धर्मग्रन्थों के ऊपर अत्यधिक विश्वास का फल है। ईश्वर ने ही सम्पूर्ण सृष्टि की है। उन्होंने ही पशु-पक्षी, जीव-जन्तु और मानव सब को बनाया है। ईश्वर पूर्ण है, अतः उसकी सृष्टि, उसके द्वारा रचित यह समाज भी पूर्ण है। इस सिद्धान्त के समर्थन में श्रीमद्भगवद्गीता का मत दिया जा सकता है, जिसमें श्री कृष्ण कहते हैं कि मैंने ही गुण और कर्म के अनुसार चतुर्वर्ण को उत्पन्न किया है। समाज की उत्पत्ति के पूर्व प्रजा तो थी परन्तु उसका कोई संगठन नहीं था। ईश्वर ने ही संगठन और संस्थाओं का निर्माण किया।

ईश्वर ने एक सुसंगठित समाज की उत्पत्ति की। परन्तु इस प्रकार की विचारधारा में समाज की उत्पत्ति का नहीं अपितु संगठित समाज की उत्पत्ति का पता चलता है। इस सिद्धान्त में समाज और राज्य दोनों की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा मानने का आधार यह दिखाना है कि समाज और राज्य शाश्वत प्राकृतिक नियमों अर्थात् धर्म पर आधारित हैं, जिनका उल्लंघन करना पाप है। राजा को ईश्वर का ही प्रतिनिधि माना जाता है और उसकी आज्ञा का पालन करना ही धर्म है। राजा केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी होता है।

प्राचीन काल से ही धर्म-ग्रन्थों में समाज और राज्य की दैवी-उत्पत्ति के सिद्धान्त को माना जाता है। इस सिद्धान्त का उल्लेख केवल महाभारत, मनुस्मृति अथवा चाणक्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र में ही नहीं है अपितु यूनान एवं रोम में भी दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का उल्लेख प्राप्त होता है। प्लूटार्क ने अनुसार, "एक नगर की स्थापना बिना भूमि के संभव नहीं है परन्तु ईश्वर में विश्वास के बिना राज्य की स्थापना नहीं हो सकती।" इसी धर्म के अनुसार समाज पर राज्य ईश्वर की रचना है। सेन्ट पॉल का उपदेश है कि, " प्रत्येक आत्मा को उच्चतर शक्तियों के अधीन होना चाहिये क्योंकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है। सभी सांसारिक शक्तियाँ ईश्वर की दी हुई हैं। अतः जो ईश्वर की आज्ञा का उल्लंघन करता है, उन पर ईश्वरीय पाप गिरेगा।" इसी प्रकार महाभारत में भी कहा गया है कि प्राचीन काल में समाज के गठन के न होने के कारण धर्म के द्वारा लोग अपनी तथा दूसरों की रक्षा करते थे। व्यक्तिगत स्वार्थवादिता तथा वैमनस्य की भावना और परिग्रह की प्रवृत्ति के कारण पापकर्मों में वृद्धि हुई जिनके निराकरण के लिए देवता गण ब्रह्मा के पास गये और उनसे प्रार्थना की कि हे प्रभु ! मुखिया के बिना हमारा विनाश हो रहा है। हमें एक मुखिया दो, जिसकी हम सब मिलकर पूजा करेंगे और वह हमारी रक्षा करेगा। यह एक रोचक विषय है कि इस्लाम में भी ईश्वर को ही समाज और राज्य का सृष्टा माना गया है।

यह सिद्धान्त लोगों में आस्था उत्पन्न करता है और ईश्वर के सृष्टिकर्ता मानने से लोगों में पाप एवं पुण्य, शुभ एवं अशुभ की भावना का विकास होता है। सामाजिक अव्यवस्था, अशान्ति और अराजकता पर अंकुश लगाने में इस प्रकार की आस्था एक नैतिक और आध्यात्मिक अंकुश का कार्य करती है। इसी प्रकार व्यक्तियों में आज्ञापालन की भावना, दायित्व की भावना, सहयोग और सौहार्द की भावना तथा कर्तव्य की भावना का विकास करने में भी यह सिद्धान्त सहायक सिद्ध होता है।

### **परिवर्तन असंभव**

यदि हम यह स्वीकार करते हैं कि समाज पूर्ण ईश्वर की पूर्ण कृति है परन्तु समाज में स्थिति एवं गति दोनों आवश्यक है क्योंकि समाज नियंत्रण एवं परिवर्तन दोनों माध्यम से बनाता है। यदि हम यह मान ले कि इसमें कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता तो फिर सुधार, क्रान्ति, विकास आदि की कोई जगह नहीं रहेगी। जहां परिवर्तन की अस्वीकार किया जाता है, वहां अंधविश्वास एवं रूढ़िवाद उत्पन्न हो जाता है।

**सामाजिक समझौते का सिद्धान्त**

इस सिद्धान्त के समर्थकों का कहना है कि जब मानव—समाज नामक कोई व्यवस्था ही नहीं थी और आदिम अवस्था असामाजिक अवस्था थी परन्तु ऐसी स्थिति में लोगों ने समाज की आवश्यकता समझी और मिलजुल कर अपनी सलाह से समाज नामक संस्था का निर्माण किया। यह विचार आपसी समझौते को महत्व देता है और चूंकि हमारी सहमति से समाज बना है इसलिए यह अभी तक अनवरत रूप से चल रहा है। केवल राज्य के भय एवं समाज के नियमों के भय से समाज नहीं टिका हुआ है। हमारी सहमति इसलिए टिकी हुई है कि इसमें हमारा अस्तित्व, हमारा कल्याण और हमारी सुरक्षा सभी संरक्षित है। सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की स्थापना दैवी सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप हुई। यह सिद्धान्त समाज को ईश्वर की कृति न मानकर मानवीय संस्था मानता है। समाज वस्तुतः दैवी इच्छा का परिणाम नहीं है अपितु यह एक सामाजिक समझौते के द्वारा अस्तित्व में आया जिसे प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्यों ने अपनी इच्छा से और अपनी सहमति से स्थापित किया। पाश्चात्य दर्शन में इस प्रकार की विचारधारा का सर्वप्रथम उल्लेख हमें यूनानी सोफिस्टों के मत में प्राप्त होता है। उनका मत था कि समाज एक संविदा का प्रतिफल है, यह एक प्रकार की कृत्रिम संस्था है। समाज की स्थापना आपसी हितों की पूर्ति के लिए व्यक्तियों द्वारा पारस्परिक सहमति और समझौते के आधार पर किया गया। प्लेटो और अरस्तू ने इस प्रकार की धारणा का खंडन किया है, परन्तु ग्रीक दर्शन का एपिक्यूरस संप्रदाय ने पुनः इस धारणा का समर्थन किया है और माना कि अपनी सुरक्षा, अपने कल्याण और अपने हितों की पूर्ति के लिए व्यक्तियों ने आपस में समझौता करके समाज की स्थापना की। रोम में ग्यारहवीं शताब्दी में मेनगोल्ड नामक समाज दार्शनिक ने सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए लिखा है, “यदि राजा इस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था तो उसे अपने पद से हटाया जा सकता है।” इसी प्रकार तेरहवीं शताब्दी में थॉमस एक्वीनास ने भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इसी के समान भारतीय धर्म ग्रन्थों में महाभारत के शान्तिपर्व, मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सामाजिक समझौते की अवधारणा का उल्लेख किया गया है। इस सिद्धान्त को मानने वाले तीन प्रमुख समाज दार्शनिकों का नाम लिया जाता है, जिनका विवरण इस प्रकार है :-

**थामस हॉब्स**

हॉब्स ने अपनी पुस्तक लेवियाथन में बताया है कि प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य एकाकी, स्वार्थी एवं हिंसक जीव था। प्राकृतिक अवस्था में न कोई समाज था न कोई राज्य ही था। अपने हिंसक स्वभाव के कारण वह एक दूसरे का शत्रु बना रहता था। न कोई व्यवस्था थी, न कोई न्याय। केवल मत्स्य न्याय अथवा जंगल के नियम ही चलते थे। मानवीय जीवन दूभर हो गया था। अतः भय के कारण सुरक्षा एवं शान्ति के लिए समाज का निर्माण हुआ। इस प्रकार सामाजिक समझौते के अनुसार समाज बना जिसके आधार पर एक सामान्य शक्ति अथवा नियम की

व्यवस्था की स्थापना हुई जिसको हम सरकार कहते हैं। यहाँ पर हम कह सकते हैं कि अपने दुःखमय जीवन और अशान्ति तथा अराजकता की स्थिति को समाप्त करने के लिए ही समाज बना। इस सामान्य शक्ति को असीम अधिकार प्राप्त है। इस तरह से हॉब्स के व्यक्तिवाद की परिणति स्वेच्छाचारिता में परिणत होती है। हॉब्स ने लेवियाथन में कामवेल की निरंकुश सत्ता का समर्थन किया है।

हॉब्स के अनुसार मनुष्य में आसुरी प्रवृत्तियों के साथ—साथ दैवी प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान हैं। हॉब्स के अनुसार मनुष्य में कुछ इच्छाएँ ऐसी भी हैं जो उसे युद्ध के लिये नहीं अपितु शान्ति एवं मैत्री के लिए प्रेरित करती हैं। जैसे, आराम की इच्छा, ऐन्द्रिक सुख की इच्छा, मृत्यु का भय, परिश्रम द्वारा प्राप्त वस्तुओं के भोग की इच्छा उसे एक शक्ति की आज्ञा मानने के लिए बाध्य कर देती है। उन्होंने मानव जीवन की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की है जिसमें व्यवस्था स्थापित करने वाली किसी सत्ता का अभाव रहता है, यह युद्ध की अवस्था है। इसमें मानव जीवन एकाकी, दीन, अपवित्र, पाशविक एवं क्षणिक होता है। इसी प्रकार हॉब्स ने प्राकृतिक नियम या प्राकृतिक व्यवस्था की भी कल्पना की है जिसमें अराजकता के होते हुये भी व्यक्ति सुखपूर्वक रह सकता है। यह विवेक पर आधारित व्यवस्था है। इसमें मानव के लिए जो कार्य विनाशकारी हैं या जीवन रक्षा के लिए विध्वंसकारी हैं, का निषेध किया गया है। इस व्यवस्था में वे कार्य स्वीकार्य हैं जिनसे जीवन सुरक्षित रहता है। हॉब्स ने यह बताया है कि समाज का अस्तित्व सामाजिक समझौते का परिणाम है। अपनी आसुरी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए मनुष्य को बाह्य नियंत्रण की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति समाज करता है। लोगों ने शक्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए एक ऐसी शक्ति की स्थापना का समझौता किया जिसको लोग अपने अधिकार सौंप देंगे तथा वह सब पर नियंत्रण करेगी। सबको वह अपना आदेश पालन करने के लिए विवश करेगी। इस तरह से बाह्य आक्रमण तथा आन्तरिक अव्यवस्था दोनों से मानव जीवन की रक्षा की जा सकेगी। इसलिए सभी व्यक्तियों ने अपने प्राकृतिक अधिकारों का परित्याग कर, सामाजिक प्रतिबन्धों के नियंत्रण में रहना स्वीकार किया। इस प्रकार स्थापित राजसत्ता के पास असीमित और निरंकुश अधिकार हैं और इस तरह का समझौता सभी मनुष्यों की स्वतंत्र इच्छा का परिणाम है और सामाजिक संप्रभुता में रहने से ही व्यक्ति का सर्वांगीण विकास संभव है।

**लॉक का मत**

लॉक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ “ट्रिटार्ज ऑन गॉवर्नमेंट” में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हॉब्स के विपरीत लॉक ने मनुष्य को मानव सहयोगी एवं सामाजिक प्राणी माना है। लॉक मनुष्यों में दैवी प्रवृत्तियों की उपस्थिति पर अधिक ध्यान देते हैं अर्थात् मनुष्य शान्तिप्रिय, प्रेम एवं दया का पोषक और परोपकारी तथा नैतिक है। लॉक के अनुसार, “सभी मनुष्य प्राकृतिक रूप से समानता की अवस्था में रहते हैं, जिसमें सम्पूर्ण शक्ति और अधिकार के क्षेत्र परास्परिक हैं और किसी भी मनुष्य को दूसरे से अधिक प्राप्त नहीं है

क्योंकि इससे अधिक स्पष्ट बात कोई दूसरी नहीं है कि एक ही नस्ल एवं वंश की सन्तान जिन्हें प्रकृति से सब लाभ समान रूप से प्राप्त होते हैं, बिना किसी आधिपत्य या अधीनता के समान हो।" हॉब्स के अनुसार, "शारीरिक एवं मानसिक असमानता के बाद भी सभी मनुष्य नैतिक दृष्टि से समान हैं। सभी को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अधिकार प्राप्त है। हॉब्स के विपरीत लॉक की यह धारणा है कि समाज के पहले की अवस्था शांति, सम्पन्नता, सहयोग, समानता तथा स्वतन्त्रता की अवस्था है जिसमें मनुष्य असामाजिक न होकर सामाजिक होता है। लॉक के अनुसार, "यद्यपि यह स्वतन्त्रता की अवस्था है तथापि यह स्वेच्छाचारिता की अवस्था नहीं है। यद्यपि इस अवस्था में मनुष्य को अपने व्यक्तित्व पर सम्पत्ति के प्रयोग की अमर्यादित स्वतन्त्रता है परन्तु उसे तब तक अपने को नष्ट करने की स्वतन्त्रता नहीं है जब तक कि ऐसा करने की आवश्यकता जीवन बनाये रखने के अतिरिक्त किसी अन्य अच्छे उद्देश्य के लिए न हो।" लॉक प्राकृतिक अवस्था में विवेक की अवस्था को मानता है जो प्राकृतिक व्यवस्था है। लॉक विवेक एवं विवेक को काम में लाने वाली सम्पूर्ण मानवता को सिखाता है कि सभी मनुष्य समान तथा स्वाधीन हैं। अतः किसी को दूसरे के जीवन, स्वास्थ्य एवं सम्पत्ति को हानि नहीं पहुँचानी चाहिये। इस प्रकार लॉक कहता है कि जो भी मनुष्यों का रक्त बहायेगा, मनुष्य द्वारा उसका रक्त बहाया जायेगा।

लॉक के मत में प्राकृतिक अवस्था आदर्श अवस्था होते हुए भी व्यावहारिक नहीं है क्योंकि इसमें कोई निश्चित, स्पष्ट एवं सर्वमान्य व्यवस्था नहीं है जिसके द्वारा उचित एवं अनुचित में भेद किया जा सके और इसमें किसी प्रकट एवं निष्पक्ष निर्णायक का अभाव है जो कि मतभेदों के होने पर निर्णय कर सके। इस प्रकार की अवस्था में नियमों को कार्यान्वित करने वाली संस्था का भी अभाव है। इन्हीं कमियों को दूर करने के लिए सामाजिक संविदा के सिद्धान्त की स्थापना हुई। लॉक के इस विचार में प्रतिपादित किया गया है कि समाज की स्थापना के पूर्व की अवस्था में लोग शांतिपूर्वक रहते थे और एक दूसरे की सहायता करते थे। वे स्वयं अपनी रक्षा भी कर लेते थे। परन्तु अतीत में लोग एक दूसरे के जीवन में हस्तक्षेप करने लगे जिसके परिणामस्वरूप समझौते द्वारा समाज की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इस तरह से समझौते के दो भाग हुए। पहला समझौता लोगों के बीच आपस में हुआ और जिसके परिणामस्वरूप समाज की स्थापना होती है। परस्पर समझौता करके वे यह सुनिश्चित करते हैं कि वे अपने सम्बन्ध में व्यवस्था करने का अधिकार समाज को देंगे। समाज मानव के वैयक्तिक और सामाजिक हित के अनुरूप ही नियमों व कानूनों का निर्माण करेगा। प्राकृतिक अवस्था के स्थान पर सामाजिक अवस्था में रहते हुये वे समाज द्वारा संरचित नियमों व विधानों का पालन करेंगे। ये सामाजिक नियम ही मनुष्य के कार्यों के औचित्य का निर्धारण करेंगे। लॉक एवं हॉब्स के मध्य भिन्नता यह है कि लॉक के अनुसार मनुष्यों ने सम्प्रभुता अपने पास रखी थी जबकि हॉब्स के मत में लोगों ने अपनी सम्पूर्ण सम्प्रभुता राजा को दे दी।

### रूसो का मत

रूसो ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Social Contract में सामाजिक समझौते की व्याख्या करते हुए कहा है कि समाज की उत्पत्ति के पहले मनुष्य प्राकृतिक अवस्था में एक भला जंगली जीव था जो सुख एवं शान्ति से रहता था, परन्तु जब जनसंख्या बढ़ी और अभाव होने लगा तो सम्पत्ति अर्जन की भावना पैदा होने लगी, जिसके कारण परस्पर संघर्ष होने लगे और ऐसी स्थिति में लोग परेशान हो गये तब उन्होंने मिलकर सामाजिक जीवन बिताने के लिए समझौता किया। रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का चित्रण तो लॉक के समान ही किया परन्तु उसका अन्त उसने हॉब्स की तरह किया। इसलिए रूसो ने समाज की सम्प्रभुता को किसी एक व्यक्ति में नहीं मानकर सभी में माना। इस तरह जहां हॉब्स ने निरंकुश सत्ता को और लॉक ने सीमित राजावाद अथवा सामंतवाद को समर्थन दिया वहीं रूसो ने सामान्य संकल्प के सिद्धान्त में विश्वास करते हुए प्रजातंत्र का विचार रखा। महाभारत के शांतिपर्व में भी सामाजिक समझौते का उल्लेख मिलता है। जिसमें बताया गया है कि जब राजा नहीं था तो मत्स्य न्याय था। सम्पूर्ण प्रजा ब्रह्मा के पास गयी। ब्रह्मा ने मनु को आज्ञा दी और तभी मनु राज्य करने लगे। तब लोगों ने अपनी आय का कुछ अंश सार्वजनिक कार्यों के लिए देने का समझौता किया। जान स्टुअर्ट मिल ने भी अपनी पुस्तक On Liberty में व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रबल समर्थन किया है।

रूसो के अनुसार जैसे-जैसे सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ, मानव स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ तथा मनुष्य स्वार्थवादी होता गया। उसकी आवश्यकतायें, अपेक्षायें और महत्वाकांक्षायें बढ़ती गयी तथा निजी सम्पत्ति की धारणा का विकास हुआ। रूसो का कहना है कि वह पहला व्यक्ति समाज का वास्तविक जन्मदाता था जिसने एक भू भाग को बाड़े से घेरकर यह कहा कि यह मेरी भूमि है और जिसे उसके उस कथन के प्रति विश्वास करने वाले सरल लोग मिल गये थे। इस व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना के उदय के साथ ही प्रतिस्पर्धा, प्रतिद्वन्द्विता, पारस्परिक कलह, द्वेष, ईर्ष्या और हिंसा की प्रवृत्ति पनपी। असमानता की भावना, शक्ति-प्रदर्शन तथा अहंकार की भावना का जन्म भी इसी अवस्था की देन है। इस तरह से कलह, संघर्ष और झगड़े आमतौर पर होने लगे, परिणामस्वरूप शान्तिपूर्ण जीवन की स्थापना के लिए, सुरक्षा आदि की स्थापना के लिए सामाजिक समझौते की आवश्यकता का अनुभव हुआ। इस सामाजिक समझौते के सम्बन्ध में रूसो ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है तथा एक समूह के रूप में हमसे प्रत्येक व्यक्ति समूह के अविभाज्य अंग के रूप में प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जो कुछ मनुष्य सामाजिक समझौते से खोता है, वह है प्राकृतिक स्वतन्त्रता और किसी भी वस्तु को पाने का असीमित अधिकार। इसके बदले में जो कुछ वह पाता है वह है नागरिक स्वतन्त्रता और अपनी सभी वस्तुओं पर सुरक्षित स्वामित्व। रूसो का कहना है कि मनुष्य स्वतन्त्र पैदा होता है, परन्तु वह अपने

को विभिन्न प्रकार के नियमों में बंधा हुआ पाता है। इस समझौते की मुख्य बात यह है कि व्यक्ति के स्थान पर समष्टि तथा व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा (General Will) का जन्म। यह सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जनहित उसका लक्ष्य होता है। रूसो ने सामान्य इच्छा को बहुत महत्वपूर्ण माना है जिसे वह असीमित, अविभाज्य, विधि का स्रोत कहता है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के द्वारा सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार प्रभुत्व शक्ति द्वारा नियुक्त एक यन्त्र मात्र है।

### **पैतृक या मातृक सिद्धान्त**

इस सिद्धान्त के अनुसार मानव समाज परिवार का ही विस्तार है और इस परिवार के केन्द्र माता एवं पिता ही है। माता-पिता के साथ ही सन्तान और फिर परिवार और फिर परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र बनता जाता है। परिवार भी दो तरह के होते हैं। एक पितृ-प्रधान जहां पिता की प्रधानता होती है। ऐसे परिवार में पिता ही नेता और मालिक होता है। दूसरा मातृ प्रधान परिवार या समाज होता है जिसमें माता ही संचालिका और मालकिन होती है। वर्तमान समय में मातृ प्रधान परिवार अथवा समाज बहुत कम स्थानों पर देखने को मिलता है। प्रायः सभी स्थानों पर पुरुष का ही प्रभुत्व दिखाई देता है। कुछ भी हो परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की उत्पत्ति माता या पिता की सत्ता से ही मानी जाती है। पैतृक सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि समाज न तो ईश्वरकृत है और न ही मानव के समझौते के द्वार कृत है, अपितु समाज क्रमशः विकास करता हुआ अपना रूप धारण करता है। लीकॉक के अनुसार इसके विकास के बारे में कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम गृहस्थी थी फिर परिवार बना और उसमें पिता प्रधान होता था। उसके बाद समान वंश के लोगों की जाति का विकास हुआ और जाति से बढ़कर राष्ट्र बना। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने भी माना है कि पहले परिवार बनता है और परिवारों के संयोग से ग्राम और ग्रामों के मिलने से समाज बनता है। इस पैतृक सिद्धान्त में यह भी बताया गया है कि परिवार का स्वामी या संरक्षक पिता ही विकासक्रम में राजा का रूप धारण कर लेता है और परिवार बढ़ते-बढ़ते राष्ट्र बन जाता है। समाज की उत्पत्ति के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि यूनान, रोम तथा हिब्रू जाति में पिता प्रधान परिवार का चलन था। प्राचीन भारत कर आर्य जाति में भी पिता को परिवार में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था और आज भी पिता प्रधान परिवार देखे जाते हैं। मातृक सिद्धान्त के समाज दार्शनिकों का मानना है कि समाज पितृ-प्रधान परिवार से नहीं अपितु मातृ प्रधान परिवार से विकसित हुआ है। इसके लिए वे यह कारण बताते हैं कि प्राचीन काल में विवाह की प्रथा नहीं थी। सभी स्त्री एवं पुरुष वासना पूर्ति के लिए कुछ समय के लिए ही एक साथ होते थे और उनके मध्य सम्बन्ध स्थायी नहीं होता था। उनके सम्बन्धों के कारण जो सन्तान पैदा होती थी वह माता के ही साथ रहती थी। माता ही अपनी सन्तान का पालन-पोषण करती थी। पिता के सम्बन्ध में जानकारी निश्चितता स्थापित करना कठिन था। ऐसी स्थिति में माता ही अपने परिवार की प्रधान

होती थी। मातृ-प्रधान परिवारों के दृष्टान्त आज भी आस्ट्रेलिया, मलाया तथा भारत की द्रविड़ जाति में दिखाई देते हैं। मातृ प्रधान परिवार से जो समाज बनता है उसकी निम्नलिखित विशेषताएं होती हैं, जैसे वैवाहिक सम्बन्ध में स्थिरता का अभाव, रक्त सम्बन्ध को आधार मानना, माता के द्वारा परिवार पर नियन्त्रण, स्त्री को उत्तराधिकार प्राप्त होना आदि। मातृ प्रधान समाज ही बाद में पितृ प्रधान बन गया क्योंकि स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में कठिनाई आने के कारण शादी की प्रथा चली। परिणामस्वरूप परिवार का प्रधान पुरुष बन गया। इस तरह से समाज मातृ-प्रधान न रहकर पितृ-प्रधान हो गया।

### **विकासवादी सिद्धान्त**

इस सिद्धान्त के समाज दार्शनिकों का कहना है कि समाज की उत्पत्ति न तो ईश्वर की कृपा से हुई, न ही किसी मानवीय समझौते का ही परिणाम है और न ही समाज केवल परिवार का ही सहज विस्तार है। मनुष्य और समाज को अलग-अलग करके देखना ही अवैज्ञानिक है क्योंकि बिना मनुष्य के समाज और समाज के बिना मनुष्य की कल्पना असंगत है। समाज से बाहर व्यक्ति का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। समाज सतत विकासशील है और विकास की यह प्रक्रिया समाज की प्रक्रिया है। इसी विकास के कारण समाज में परिवर्तन होता रहता है। मानव समाज का विकास असभ्यता से सभ्यता की ओर और आखेट युग से औद्योगिक युग तक हुआ है। इस विकास की प्रक्रिया का कहीं पूर्ण विराम नहीं होता है। सामंतवाद से पूँजीवाद और पूँजीवाद से समाजवाद एवं साम्यवाद तक तो हमने खोजा भी है और उसका कुछ रूप भी सामने आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विकास समाज का अनिवार्य धर्म है। इस प्रकार समाज की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त अधिक मान्य एवं संगत है। मानव जाति का इतिहास मानव समाज के विकास का साक्षी है जिससे हम इन्कार नहीं कर सकते। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पीछे वर्णित तीन सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं है। आदिम समाज में ईश्वर-भावना के कारण दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त आया और प्रजातंत्र के विकास के कारण सामाजिक समझौते का मूल्य समझा गया। माता-पिता के महत्व के कारण पैतृक एवं मातृक सिद्धान्तों को स्वीकारा गया है। परन्तु कोई भी अपने-आप में पूर्ण सत्य नहीं था। यही कारण है कि विकासवादी सिद्धान्त अधिक न्यायसंगत है क्योंकि यह मानव इतिहास का दर्पण है।

विकासवादी दार्शनिक समाज को ऐतिहासिक संगठन न मानकर प्रगतिशील एवं विकासशील संगठन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। विकासवादी मानव एवं समाज के मध्य अंग एवं अंगी के सम्बन्ध को मानते हैं और कहते हैं कि मानव एवं समाज दोनों का अस्तित्व साथ-साथ है। मानव जाति का इतिहास इस बात का साक्षी है कि समाज किसी न किसी रूप में हमेशा से विद्यमान है परन्तु समाज के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। हर्बर्ट स्पेंसर विकासवादी दार्शनिकों में सबसे महत्वपूर्ण विचारक है। उनके अनुसार समाज एक जैविक संगठन है अर्थात् जिस प्रकार कोई जीव अपने वातावरण के घात एवं प्रतिघात से विकसित होता है, उसी प्रकार समाज अपने वातावरण के घात एवं प्रतिघात से विकसित होता है। मानव एवं समाज

के विकास में पृथक्करण और संगठन दोनों व्यापार साथ-साथ चलते हैं। समाज कई वर्गों में विभाजित होता है और पुनः इन वर्गों में संगठन होता रहता है। संगठन के बाद विघटन और विघटन के बाद पुनः संगठन ये दोनों व्यापार चलते रहते हैं। इस प्रक्रिया में समाज की रचना सरल से जटिल, अव्यवस्थित से सुव्यवस्थित तथा विश्रुखलित से सुश्रुखलित होती है। समाज का उद्देश्य एक ओर अपने को वातावरण के सर्वथा अनुकूल बनाना है और दूसरी ओर अपना आंतरिक संघटन सूत्र हमेशा दृढ़ से दृढ़तर करते रहना है। दूसरे महत्वपूर्ण विकासवादी दार्शनिक लेजली स्टीफेन है जो समाज को स्वतः एक जीव न मानकर एक संघटन मानते हैं। उनकी दृष्टि से समाज एक ऐसी व्यवस्था है जो लघु से बृहत् व शिथिल से सुदृढ़ व एक रूप से बहुत्व तथा अव्यवस्थित से सुव्यवस्थित होती रहती है। प्रत्येक काल में प्रत्येक समाज का संतुलन होता है और यह संतुलन फिर भंग हो जाता है और अन्त में एक नया संतुलन स्थापित होता है। समाज वास्तव में इस प्रकार के सामाजिक संतुलन की स्थापना के लिए ही अस्तित्व में आया है क्योंकि समाज एक गतिशील एवं सक्रिय संगठन है। मानव की विकासवादी व्याख्या में चार्ल्स डार्विन का प्रमुख सिद्धान्त 'जीवन के लिए संघर्ष' प्रचलित है। समाज में यह सिद्धान्त दो रूपों में दिखाई देता है, प्रथम, समाज में रहने वाले व्यक्तियों में परस्पर संघर्ष की स्थिति आ जाती है जो स्वाभाविक घटना है। द्वितीय, एक समाज कभी-कभी अन्य समाजों से भी संघर्षरत होता है। यह संघर्ष कभी-कभी हिंसा का रूप भी ग्रहण कर लेता है परन्तु विकास की प्रक्रिया के साथ संघर्ष का रूप भी बदलता रहता है। मानव की आरम्भिक अवस्था में संघर्ष पूर्णतः हिंसात्मक था जिसमें शत्रु का दमन या सर्वनाश अपेक्षित था। परन्तु कालान्तर में संघर्ष का रूप भौतिक से बौद्धिक होता हुआ दिखाई देता है। वर्तमान समय में संघर्ष प्रतियोगिता, वाद-विवाद, आलोचना और मतभेद के रूप में बदल गया है। हर्बर्ट स्पेंसर एवं लेजली स्टीफेन के बाद तीसरे विकासवादी दार्शनिक सैमुअल एलेक्जेन्डर का मानना है कि समाज यद्यपि प्राकृतिक शक्तियों से अविर्भूत हुआ है, परन्तु समाज एक नैतिक व्यवस्था के रूप में दिखाई देता है और इस रूप में समाज अन्य विकसित वस्तुओं से भिन्न है।

उपरोक्त विकासवादियों से भिन्न एलेक्जेन्डर का मत है कि समाज के विकास का कारण जीवन संग्राम नहीं, अपितु जीवन संग्रह एवं जीवन संरक्षण है क्योंकि यदि समाज के सभी व्यक्ति संघर्षरत ही रहते तो सामाजिक विकास असंभव हो जाता क्योंकि बिना पारिवारिक सद्भाव और एकता के विकास संभव नहीं है। समाज का अविर्भाव और विकास सहयोग, सामंजस्य, सहकारिता एवं शांति की भावना से होता है।

कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी सिद्धान्त में भी समाज के विकास की विवेचना की गई है जिसे मार्क्स ने ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से प्रस्तुत किया है। जिसमें मार्क्स ने बताया है कि आदिम समाज वर्गहीन था जिसमें कोई शोषक या शोषित, धनी या निर्धन कोई नहीं था। समाज की दूसरी अवस्था में दो वर्ग दिखाई देते

हैं एक मालिक और दूसरा गुलाम। मालिक एवं गुलाम के बीच संघर्ष पैदा हुआ जिसके परिणामस्वरूप सामन्तशाही समाज की स्थापना हुयी। इस अवस्था में सामन्त एवं प्रजा दोनों के मध्य संघर्ष हुआ परिणामस्वरूप चौथी अवस्था पूँजीवाद की समाज में स्थापना हुयी। इस अवस्था में श्रमिक एवं पूँजीपति वर्गों में संघर्ष हुआ परिणामस्वरूप समाजवाद की स्थापना हुयी। समाजवाद का लक्ष्य वर्गहीन समाज की स्थापना करना था जिसमें वर्ग संघर्ष की कोई संभावना नहीं थी। मार्क्स ने सामाजिक विकास और सामाजिक परिवर्तन का मुख्य आधार आर्थिक साधनों के विकास को माना है।

आधुनिक काल में अगस्ट कॉम्टे ने समाज के इतिहास का सर्वेक्षण करते हुए कहा है कि प्रारम्भ में समाज का रूप सैनिक शासन का था, जिसमें समाज के सदस्यों ने अपने राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त किया। अन्त में समाज का स्वरूप औद्योगिक व्यवस्था में बदल गया जिसमें विशेष योग्यता प्राप्त वैज्ञानिक और तकनीकीविदों का प्रमुख स्थान हो गया। कॉम्टे ने समाज की तुलना एक सरल रेखा से की है जिसका एक निश्चित उद्देश्य है तथा जिसकी एक निश्चित गति है, जो निरन्तर परिवर्तनशील एवं गतिशील है।

#### निष्कर्ष

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस शोध पत्र की बातों को ध्यान में रखते हुए समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्तों पर और अधिक अनुसंधान होना चाहिए। प्रस्तुत शोध पत्र में अब तक स्थापित सभी समाज की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की सविस्तर विवेचना करने का प्रयास किया गया है ताकि पाठकों को समाज की उत्पत्ति के विचारों की सटीक जानकारी प्राप्त हो सके।

#### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ० पिताम्बर दास, रिमार्किंग, वॉ० 3, अंक 06, सितम्बर 2018, शोध पत्र शीर्षक— समाज की प्रकृति एवं दार्शनिक आधार।
2. प्रो० अशोक कुमार वर्मा, प्रारम्भिक समाज एवं राजनीति दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, वर्ष—2006
3. जगदीश सहाय श्रीवास्तव,, समाज दर्शन की भूमिका, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, वर्ष—2002
4. डॉ० शिवभानु सिंह, समाज दर्शन का सर्वेक्षण, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, वर्ष—2001
5. डॉ० रामनाथ शर्मा, समाज दर्शन, केदारनाथ रामनाथ एण्ड क०, मेरठ, वर्ष—1998
6. डॉ० बी० एन० सिन्हा, समाज दर्शन—सामाजिक व राजनीतिक दर्शन, सपना अशोक प्रकाशन, रामनगर, वाराणसी।
7. डॉ० पिताम्बर दास, शोध पत्र—'मानव स्वभाव की उत्पत्ति' वॉ० 5, अंक—10, जून—2018, श्रृंखला एक शोधपरक वैचारिक पत्रिका, सोशल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर, 03प्र० द्वारा प्रकाशित।
8. डॉ० पिताम्बर दास, शोध पत्र—'समाज की दार्शनिक पृष्ठभूमि' वॉ० 6, अंक—4, मई—2018, पीरियोडिक रिसर्च पत्रिका, सोशल रिसर्च फाउण्डेशन, कानपुर, 03प्र० द्वारा प्रकाशित, पृ०सं० 44—50.

9. राहुल सांकृत्यायन, मानव-समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2012
10. जे0 एस0 मेकेन्जी, समाज-दर्शन की रूपरेखा, रूपान्तरकार, डॉ0 अजीत कुमार सिन्हा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, वर्ष-1962
11. संगम लाल पाण्डेय, समाज दर्शन की एक प्रणाली, इलाहाबाद।
12. डॉ0 हृदय नारायण मिश्र, समाज दर्शन-सैद्धांतिक एवं समस्यात्मक विवेचन, शेखर प्रकाशन, इलाहाबाद, वर्ष-2009
13. डॉ0 रामजी सिंह, समाजदर्शन के मूल तत्त्व, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1983
14. डी0 आर0 जाटव, भारतीय समाज एवं विचारधाराएँ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, वर्ष-2002
15. हेंड्रिक विलोम फ़ान लून. हिन्दी अनुवाद. अरुण कुमार, प्रकाशन संस्थान, अंसार रोड, नई दिल्ली, वर्ष-2014
16. डॉ0 पिताम्बर दास, शोध पत्र-संस्थाओं की उत्पत्ति एवं उनके दार्शनिक आधार, श्रृंखला एक शोध परक वैचारिक पत्रिका, वॉ0 5, अंक-12, अगस्त-2018, सोशल रिसर्च फाऊण्डेशन, कानपुर द्वारा प्रकाशित।